चतुर्थ अध्याय – अष्टछाप कवि : पर्यालोचन

4.1 अष्टछाप भक्ति का स्वरूप एवं समय

4.2 अष्टछाप कवियों का परिचय : वार्ताओं एवं भक्तमालों के अनुसार

सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास, नंददास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भजदास

4.3 अष्टछाप कवि के काव्य का दार्शनिक आधार– ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष

4.4 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

4.4.1 उत्तर भारत की राजनैतिक परिस्थितियाँ

4.4.2 उत्तर भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

4.4.3 उत्तर भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ

4.4.4 उत्तर भारत की धार्मिक परिस्थितियाँ

4.4.5 उत्तर भारत की कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

चतुर्थ अध्याय

अष्टछाप कवि : पर्यालोचन

4.1 अष्टछाप कवियों की भक्ति का स्वरूप एवं समय

मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति साहित्य में वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियों का महत्वपूर्ण स्थान है। अष्टछाप कवियों को 'अष्टसखा' भी कहा जाता है। जिनकी पुष्टिमार्गीय भक्ति थी। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में ''यों तो पुष्टिमार्ग को स्वीकार करने वाले अनेक भक्त उस समय विद्यमान थे, किंतु जिन आठ भक्त कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आर्शीवाद की छाप लगायी थी वे 'अष्टसखा' या अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं।''[1] श्री वल्लभाचार्य ने 'शुद्धाद्वैत सिद्धांत' के साथ पुष्टिमार्गीय भक्ति का आधार कृष्ण को माना है। पुष्टिमार्गीय भक्ति सामाजिक विकास पर केंद्रित थी। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने 1565 ई० में अष्टछाप की स्थापना की। इन आठ भक्त कवियों में सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास एवं कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। अन्य चार गोविंदस्वामी, नंददास, छीतस्वामी और चतुर्भजदास, विट्ठलनाथ के शिष्य थे। श्रीनाथ जी की सेवा में समर्पित अष्टछाप कवि उनकी लीला भावना के अनुसार समय और ऋतु के रागों द्वारा कीर्तन किया करते थे। वे भगवान श्री कृष्ण के अंतरंग सखा थे, जो उनकी चिरंतर लीलाओं में सदैव उनके साथ रहा करते थे। वल्लभसम्प्रदाय में सेवाविधि का उल्लेख करते हुए डॉ. नगेंद्र कहते हैं, ''अष्टयाम की सेवा–मंगलाचरण, श्रृंगार, ग्वाल, राजयोग, उत्थापन, भोग, संध्या–आरती और शयन को इस सम्प्रदाय में बड़े समारोह से स्वीकार किया गया है।''[2] सभी अष्टछाप कवियों की भक्ति भावना इतनी प्रगाढ़ थी, कि उन्हें अहर्निश श्रीनाथ जी के सान्निध्य का आभास होता रहता था। वे अनुभव करते थे। कि श्रीनाथ जी सदैव उनके साथ रहकर उनसे वार्तालाप करते हैं, नाना प्रकार के खेल खेलते हैं, यहाँ तक की हास्य विनोद भी करते हैं। इन कवियों की जन्म–मरण

की तिथियाँ विवादास्पद है। दीनदयालु गुप्त ने अष्टछाप कवियों का समय निम्न प्रकार निर्धारित किया है।

सूरदास	सं० 1535 – 1639
परमानंददास	सं० 1550 – 1640
कुंभनदास	सं० 1525 – 1639
कृष्णदास	सं० 1552 – 1632
नंददास	सं० 1590 – 1639
चतुर्भुजदास	सं० 1597 – 1642
गोविंदस्वामी	सं० 1562 – 1642
छीतस्वामी	सं० 1567 – 1642

अष्टछाप कवियों की भक्ति वात्सल्य, सख्य, दैन्य, दास्य एवं आत्मनिवेदन आदि भावना की भक्ति है। आचार्य शुक्ल ने 'त्रिवेणी' में सूर द्वारा किए गए वात्सल्य एवं श्रृंगार के मनोरम पक्ष को इस प्रकार उद्घाटित करते हैं, ''बाल्यकाल और यौवनकाल कितने मनोहर हैं, उनके बीच की नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद् चित्रण द्वारा सूरदासजी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी, उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे।''[3] कृष्ण भक्त कवियों ने तत्कालीन समय में जनता के रूक्ष हृदय में मनोहर गायन द्वारा रस का संचार किया।

अष्टछाप कवियों ने निर्गुण मत का डटकर विरोध किया। अष्टछाप कवियों ने गोपियों के माध्यम से निर्गुण ज्ञानवाद की ओर व्यंग्य किया है तथा कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की एकनिष्ठता और अनन्यता का परिचय दिया है। 'भ्रमरगीत सार' में सूर का पद दृष्टवय है जिसमें गोपियों द्वारा उद्धव का निर्गुण ब्रह्म का उपदेश असहनीय होने पर निर्गुण ब्रह्म संबंधी मनोरंजकपूर्ण प्रश्न पूछकर उसकी हँसी उड़ाई है। गोपियों को उद्धव के निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास नहीं है।

'निर्गुण कौन देस को बासी?

मधुकर! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझती सांच, न हाँसी।।

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी?

कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी।।

पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।

सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी।।'[4]

अष्टछाप कवि कृष्ण के माधुर्य रूप के वर्णन में ही मन रमाये हुए थे। बच्चन सिंह कहते हैं, ''चूँकि कृष्णभक्ति में उनकी लीला का ही वर्णन था इसलिए यह मुसलमान भक्तों के छन्दों में भी बँधी। सामंती बंधनों में जकड़े स्त्री–पुरुष को मुक्तभाव से स्वच्छंद प्रेम–गान का अवसर मिला।''[5] तत्कालीन समय में प्रेम पर कड़े बंधन थे। सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त समाज में राधा–कृष्ण के माध्यम से प्रेम का खूब गायन हुआ। रामविलास शर्मा भी स्पष्ट करते हैं, ''सूर ने राधा और गोपियों के प्रेम में भारतीय नारी के हृदय में छिपी हुई प्रेम की प्यास को वाणी दी।''[6] भजन–कीर्तन आदि के माध्यम से नारियों ने अपने हृदय की प्रेमाभिव्यक्ति के साथ–साथ विरह का वर्णन भी राधा कृष्ण का उपमान लेकर गाया।

विद्यापति और जयदेव की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए कृष्णभक्त कवियों ने श्रृंगारिक रचनाएं की हैं, किंतु अष्टछाप कवियों की रचनाएं संयमित है। कहीं कहीं पर उसी परंपरा का निर्वहन करते हुए उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। आचार्य शुक्ल कृष्णभक्त कवियों की रचनाशीलता के पक्ष में मत प्रकट करते हैं, ''सब सम्प्रदायों के कृष्णभक्त कवियों में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण के मधुर रूप को ही प्र्याप्त समझा। महत्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्यबुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोकरक्षक और धर्म संस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी। भगवान के मर्मस्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने

की प्रवृति का विकास कृष्णभक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्णभक्त कवि अधिकतर फुटकर श्रृंगारी पदों की रचना में ही लगे रहे।''[7] राधा कृष्ण को आलम्बन बनाकर इन कवियों ने श्रृंगारिक पदों की रचना की, जिसे ही आगे रीतिकाल के लिए प्रशस्त किया हुआ मार्ग माना जाने लगा। गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार, 'नैतिकता, मर्यादा एवं लोकमंगल की उपेक्षा के कारण इस साहित्य का जनता के चरित्र पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इस काव्य दीपक ने आगे चलकर अश्लील श्रृंगारिकता का कज्जल उत्पन्न किया। रीतितत्त्वों का समावेश भी सूरदास एवं नंददास जैसे कवियों ने अपने काव्य में किया है। अतः कहा जा सकता है कि परवर्ती रीतिकाल के प्रवर्तन में इन कवियों ने प्रत्यक्ष में गहरा योग दिया है।'[8] आलोचकों द्वारा यह बात स्वीकार की जाती है कि रीतिकाल के प्रवर्तन में कृष्णभक्त कवियों का भी योगदान है तथा साथ–साथ यह भी स्वीकार करते हैं, ''अष्टछाप के कवि बहुत कुछ अन्तर्मुखी थे। उन्होंने तत्कालीन समाज या परिस्थितियों के प्रति मुँह मोड़ लिया था। उनके लिए केवल श्रीनाथ जी का मंदिर ही बैकुण्ठ था। न वे कहीं बहुत दूर–दूर जाते थे, न ही धर्म के प्रचार में वाद–विवादों में पड़ते थे।''[9] अष्टछाप कवि गोवर्धन पर विराजमान श्रीनाथ स्वरूप की भक्ति उपासना कर उन्हें ही रीझाने में लगे रहे। उन्होंने दक्षिण के संतों की भांति घूम–घूम कर धर्म के प्रचारार्थ कोई कार्य नहीं किया।

अष्टछाप भक्त कवियों की रचनाएं भले ही श्रृंगार रस से ओत–प्रोत हो किंतु उनकी रचनाओं में प्रेमभक्ति के योग से अष्टांग योग को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। नंददास भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए 'दशम स्कंध भाषा भागवत' में कहते हैं–

'हे प्रभु पाछे बहुतक भोगी, तजि तजि भोग भये भल जोगी।

ह्वि अष्टांग जोग अनुसरे, ग्यान हेतु बहुत तप करे।।

अति श्रम जानि कहाँ तैं फिरे, तुम कहुं कर्म समर्पन करे।

तिनकर सुद्ध भयो मन मर्म, तब लीने प्रभु तुम्हें कर्म।।

कथा श्रवन तहि पाई भक्ति, जाके संग फिरत सब मुक्ति।

ता करि आत्म तत्त्व कौं पाइ, बैठे सहज परम गति पाइ।।'[10]

प्रस्तुत पद में नंददास कहते हैं कि हे प्रभु! भोगी जनों ने योग का मार्ग अपनाकर अष्टांग योग का अनुसरण किया। ज्ञान प्राप्ति हेतु बहुत तप किये। अंततः अपने सभी कर्म आपको ही समर्पित कर दिए। कथा श्रवण के माध्यम से ही भक्ति पाकर मुक्ति को प्राप्त किया। इसी प्रकार कुंभनदास भी सदैव अपने इष्ट के स्वरूप में खोए रहते थे। कुंभनदास की गोपियों की स्थिति भी सूर की गोपियों की भांति ही विरह दशा की मूक पीड़ा की उद्भावनाएं उत्पन्न करती हैं

'कहा करौं उह मूरति मेरे जिय तें न टरई।

सुंदर नंद कुंवर के बिछुरे तिसि दिन नींद न परई।।

बहु विधि मिलन प्रान प्यारे की सु एक निमिख न बिसरई।

वे गुन समुझि–समुझि चित्त नैननि नीर निरंतर ढ़रई।।

कछु न सुहाई तलाबेली मन, विरह अनल तन जरई।

'कुंभनदास' लाल गिरधर बिनु समाधान को करई।।'[11]

अष्टछाप कवियों की रचनाओं में मिलन का उत्साह है एवं बिछोह की व्याकुलता का चित्रण है। वात्सल्य रस से ओत प्रोत रचनाएं अनुपम है। शृंगारिक रचनाएं प्रेम एवं माधुर्य भाव की भक्ति की है। यह एकनिष्ठ प्रेम श्रीनाथ को ही समर्पित है। उन्होंने दरबारी कवियों की भांति राजप्रशंसा के गीत नहीं गाए। राजदरबार तक जाना भी उन्हें अरूचिकर लगता था। उन्होंने मुक्त कण्ठ से श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का गायन किया है।

4.2 'वार्ता साहित्य' एवं 'भक्तमालों' के अनुसार अष्टछाप कवियों का विवरण

वार्ता साहित्य एवं भक्तमालों को कृष्ण भक्त कवियों को समझने का प्रमाणिक स्रोत माना जाता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में वल्लभाचार्य के शिष्य सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास से संबंधित सामग्री ज्ञात होती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में नंददास, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी एवं छीतस्वामी का वर्णन है। भक्तमालों एवं भक्तमाल की टीकाओं में इनके जीवन से संबंधित प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध होती है। वार्ता साहित्य ब्रज भाषा में लिखा गया है। विश्वनाथ त्रिपाठी स्पष्ट करते हैं, ''रामानंद के शिष्यों में से एक अनंतानंद थे। उनके शिष्य कृष्णदास पयहारी थे। ये सन् 1575 के आसपास वर्तमान थे। उन्हीं कृष्णदास पयहारी के शिष्य प्रसिद्ध भक्त नाभादास थे। नाभादास की रचना भक्तमाल का हिंदी साहित्य में अभूतपूर्व ऐतिहासिक महत्व है। इसकी रचना में 200 भक्तों का चरित्र 396 छप्पयों में वर्णित है। इसका उद्देश्य तो जनता में भक्ति का प्रचार था, किंतु आधुनिक इतिहासकारों के लिए यह हिंदी साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण आधार ग्रंथ सिद्ध हुआ है। अवश्य ही इसमें भक्तों के चरित्र का वर्णन चमत्कारपूर्ण है, किंतु उसे मध्यकालीन वर्णन शैली के रूप में ग्रहण करना उचित है। इन चमत्कारिक वर्णनों से तत्कालीन जनता की मानसिकता का पता चलता है। मध्यकाल में तथ्यपरता पर कम ध्यान रहता था, वहाँ भाव प्रधान था, तथ्य गौण।''[12]

नाभादास के शिष्य प्रियादास द्वारा भक्तमाल की टीका लिखी गई है। दीनदयालु गुप्त के अनुसार 'भक्तमाल की रचना के 90 वर्ष बाद सं० 1769 में नाभादास जी शिष्य परम्परा में होने वाले भक्त प्रियादास जी ने ''भक्ति–रस–बोधिनी'' नाम की टीका छंदों में लिखी।'[13] भक्तमाल की और भी टीकाएँ लिखी गई हैं। किंतु अधिक प्रमाणिक प्रियादास कृत टीका को माना गया है। प्रियादास कृत भक्तमाल में ऐतिहासिक सामग्री की न्यूनता है। इसमें

भक्तों के वृतांत तत्कालीन प्रचलित किवदन्तियों के आधार पर दिए गए है। तथा भक्तों के चरित्र से संबंधित चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

इसी श्रृंखला में राघवदास कृत भक्तमाल की सामग्री का भी विशेष स्थान है। दादूपंथी कवियों में राघवदास द्वारा सबसे बड़ी एवं महत्वपूर्ण भक्तमाल बनाई गई है। नाभादास की भक्तमाल के अनुकरण से ही सं० 1717 में इसकी रचना हुई है। इसमें अनेक संत एवं भक्तजनों का उल्लेख है, जिनका वर्णन नाभादास कृत भक्तमाल में नहीं है। कवि राघवदास दादूपंथी सम्प्रदाय के थे, इसलिए दादूपंथी सम्प्रदाय के कवियों का वर्णन तो भक्तमाल में मिलता ही है साथ ही साथ मुसलमान, चारण आदि अनेक भक्तों का विवरण भी है। जिनके संबंध में और किसी भक्तमाल ने कुछ नहीं कहा है, इसलिए इस भक्तमाल की अपनी विशेषता है और यह ग्रंथ बहुत ही महत्वपूर्ण है। राघवदास कृत भक्तमाल के टीकाकार चतुरदास है। प्रियादास की टीका को देखकर चतुरदास ने इन्दव छंद में इस टीका की रचना की। राघवदास कृत भक्तमाल में सूरदास, नंददास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविंदस्वामी अष्टछाप कवियों का वर्णन मिलता है।

सूरदास

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सर्वप्रथम गोसाईं जी का तथा सूरदास के मिलन का वर्णन मिलता है। सूरदास गऊघाट पर वल्लभाचार्य से मिलने आते हैं। वल्लभाचार्य सूरदास से भगवद्यश वर्णन करने को कहते हैं तब सूरदास गाते हैं–

'हों हरि सब पतितन को नायक।

को करिसकें बराबर मेरी इतने मान के लायक।।'[14]

इस पद में सूरदास स्वंय को सब पतितन को नायक कहते हैं। तभी एक ओर पद गाते हैं जिसमें स्वंय को पतितन को टीकौ कहते हैं–

'प्रभुमें सब पतितनकोटीकौ।।

और पतित सब द्यौसचरिकें मैं तो जन्महीकौ।।

बधिक अजामिलि गनिका त्यारी और पूतनाहीकौ।।

मोहि छोड़ि तुम और उधारै मिटै शूलकेसे जीकौ।।

कोउ न समरथ सेब करनका खेचि कहतही लीकौ।।

मरियतलाज सूरपति तनमें कहत सबनमें नीकौ।।'[15]

प्रस्तुत पद में सूरदास अपनी दैन्य अवस्था का वर्णन करते हुए स्वंय को पतितों का टीका और जन्म से ही पतित बताते हैं। उन्हें छोड़ अजामिल, गणिका एवं पूतना का उद्धार करना उन्हें शूल के समान चुभ रहा है। वह लाज के मारे मरे जा रहे है। फिर भी सभी से कह रहे है कि वह ठीक हैं।

प्रियादासजी की टीका में अष्टछापी सूरदास के विषय में जन्म, जन्मस्थान, वंश, जाति आदि की जानकारी प्राप्त नहीं होती। सूरदास की भक्ति एवं काव्य की प्रशंसा में भक्तमाल में छप्पय मिलता है।

''सूर'' कबित सुनि कौन कबि, जो नहिं सिर चालन करे।

उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति, अति भारी।।

बचन प्रीति निर्बाह, अर्थ अद्‌भुत तुक धारी।

प्रतिबिंबित दिबि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।।

जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।

बिमल बुद्धि गुन और की, जो यह गुनश्रवननि धरै।

''सूर'' कबित सुनि कौन कबि, जो नहिं सिर चालन करै।।[16]

प्रस्तुत छप्पय में सूरदास की प्रशंसा की गई है। ऐसा कौन सा कवि है, जो सूरदास की प्रशंसा में सिर ना हिलावै। उनकी कविता के अनुपम सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनकी कविता में बड़ी भारी नवीन उक्तियाँ, चोज, चातुर्य, अनूठे अनुप्रास एवं कविता के तुकों में अद्‌भुत अर्थ भरा है। उन्होंने कृष्ण की लीलाओं को अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर उनका वर्णन किया है।

वार्ता में सूरदास का देशाधिपति (अकबर) से मिलने का एक प्रसंग आता है। प्राचीन भारत के इतिहास से पता चलता है कि राजा–महाराजा अपनी आत्मप्रशंसा सुनने के लिए दरबारी कवियों को रखा करते थे। इस प्रशंसा के बदले में उन्हें उपहार के रूप में मुद्रा देकर प्रशंसा सुननी चाही ''जो सूरदास जी में सुन्यों है जो तुमने बिसन पद बहु कीये हैं जो मोको परमेश्वरनें राज्य दीयौ है सो सब गुनीजन मेरौ जस गावत हैं ताते तुमहूं कछू गावौ तब सूरदास जी ने देशाधिपति के आगे कीर्तन गायो सो पद– मनारे तू करि माधौसों प्रीति।''[17] सूरदास ने संपूर्ण करके यह पद गाया और सूरदास के इस पद से देशाधिपति समझ गए कि इन्हें किसी बात का लालच हो तो मेरा यश गाए। ये परमेश्वर के जन है। सूरदास जी इस पद के अंत में गाते हैं ''हो तो सूर ऐसे दर्शको इमरत लोचन प्यास''[18] सूरदास दृष्टिविहीन थे और ऐसा पद गाने पर देशाधिपति सूरदास से प्रश्न करते हैं ''जो सूरदासजी तुम्हारे तो देखियत नाहीं सो प्सासे कैसे मरत है और बिन देखे लोचन तुम उपमा को देत हौ सो तुम कैसे देत हौ तब सूरदासजी कछु बोलत नाहीं फेरि देशाधिपति बोलौ जो इनके लोचन है सोतो परमेश्वर के पास है सो ऊंहा देखत है सो वर्णन करत है।''[19] सूरदास से पूछने पर कि तुम्हें तो दिखता नहीं है फिर दर्शन बिन प्यासे कैसे मरते हो। बिन देखे उपमा कैसे देते हो। सूरदास देशाधिपति का यह प्रश्न सुनकर चुप रहते हैं और देशाधिपति उत्तर स्वंय ही समझ जाता है कि इनके नैन तो परमेश्वर के पास हैं जो वहाँ देखते है उसी का वर्णन करते हैं।

अष्टछाप कवियों के समय मुगलों का शासन विद्यमान था। प्रस्तुत प्रसंग में देशाधिपति अकबर के लिए प्रयोग किया गया है सूर, तुलसी, मीरा समकालीन माने गए हैं। अकबर की इन तीनों से भेंट हुई ऐसा वर्णन इतिहास में मिलता है। वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि मुगल शासक भी इन संत–भक्त कवियों को सुनने को लालायित रहते थे। दरबार

में इनका आदर–सम्मान होता था। अपितु मुगल शासन भी इनकी गृह भूमि में इनसे मिलने जाते थे। वार्ता में सूरदास को 'पुष्टि मार्ग का जहाज' कहा गया है। वल्लभाचार्य जी अपने शिष्यों से कहते हैं कि पुष्टिमार्ग का जहाज जा रहा है। वल्लभाचार्य जी सूरदास के अंत समय उनसे पद सुनाने को कहते हैं तब सूरदास अपनी अटल आस्था और आत्मनिवेदन प्रकट करते हुए गाते हैं।

'भरौसो दृढ़ इन चरणनकेरौ।।

श्री वल्लभनचन्द्रछटाबिनु सब जगमांझि अन्धेरौ।।

सधन और नहीं या कलिमें जासोंहोतनिबेरौ।।

सूर कहा कहि दुबिधिआधिरौ विनामोलकौचेरौ।।'[20]

परमानंददास

सूरदास के पश्चात् अष्टछाप कवियों में परमानंददास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परमानंददास का जन्म चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार कन्नौजिया ब्राह्मण के घर हुआ। उनकी भक्ति बाल, कांता एवं दास्य भाव की थी। यह अष्टछाप कवियों में विरह गान में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। वार्ता साहित्य के अनुसार परमानंददास कन्नौज से प्रयाग आए। ये कीर्तन बहुत अच्छा गाते थे। इनका कीर्तन सुनने बहुत दूर से लोग आते। परमानंददास कृष्ण के परम सखा हैं। सखा से बिछुड़ने का भाव इनके पदों में व्यक्त हुआ है। परमानंददास जब कीर्तन करते तो विरह के पदों में ही उनका मन रमता। गोपियों की दयनीय दशा का चित्रण इनके अनेक पदों में होता है

'जियकी साधन जियहीरहीरी।।

बहुरी गोपाल देखि नाहीं पाए बिलपतकुंजअहीरी।।

एक दिनसो जसमीप यह मारग वेचन जातदहीरी।।

प्रीतके लिए दानमिस मोहन मेरी बाँहगहीरी।।

बिन देखे घड़ी जातकलपसम विरहाअनलदहीरी।।

परमानंद स्वामी बिन दर्शन नैननींदबहीरी।।[21]

प्रिय से बिछुड़ने का दुख उनके पदों में बहुधा नजर आता है। 'वार्ता साहित्य' में एक प्रसंग आता है जब परमानंददास श्री वल्लभाचार्य की सेवा में आते हैं। तब वल्लभाचार्य उन्हें भगवद्यश गाने को कहते हैं। परमानंददास विरह पद गाने लगते हैं। वल्लभाचार्य उन्हें बाललीला का वर्णन करने के लिए कहते हैं। तब परमानंददास कहते हैं, कि मैं बाललीला नहीं जानता। तब वल्लभाचार्य उन्हें नवनीतप्रियाजी के दर्शनों का स्मरण कराते हैं। वार्ता साहित्य में वल्लभाचार्य जी के शब्दों में कहीं गई पंक्ति ''जो ये ठाकुर जी सो बिछुरे है सो बिछुरे के दुःख की स्फूर्ति रही और संयोग जो सुख भयौ ताको विस्मरण भयौ।''[22] तब परमानंददास को नवनीतप्रिया की छवि याद आती है और वह बाललीला गाने लगते हैं

'माईरीकमल नैनश्यामसुन्दरझूलतहैपलना।।

बाललीलागावतं सबगोकुलके ललना।।

अरूणतरूणकमलनखममनिजसजोति।।

कुंचितकचमकराकृत लटकतगजमोती।।

अंगूठागहिकमलपानमेलमुखमाहीं।।

अपनोंप्रतिबिम्बदेखिपुनिपुनिमुसकाहि।।

जसुमतिके पुन्यपुन्जरवारलाले।।

परमानंदस्वमीगोपालसुतसनेहपाले।।'[23]

प्रियादास कृत टीका में दो परमानंद भक्त कवि हैं। एक कवि श्रीधरस्वामी के गुरू संन्यासी हैं तथा दूसरे अष्टछाप कवि हैं। जिनके विषय में भक्तमाल में कहा है। ''श्री कृष्णचन्द्र के जन्म से पाँच वर्ष तक की बाल लीला तथा दस वर्ष तक की पौगंड़ लीला, ये सब गोप्य चरित्र गान किये।''[24] छप्पय में इन्हें ''सारंग'' छाप कहा गया है। 'परमानंद सारंग' की विशेषताएं 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में अष्टछापी परमानंददास से मिलती हैं। केवल वार्ता में इन्हें सारंग नहीं कहा गया है। दीनदयालु गुप्त के अनुसार, ''परमानंद के आधे से अधिक पद सारंग राग में लिखे हुए हैं।''[25] इस कारण भी इन्हें परमानंद सारंग कह दिया हो, ऐसा माना जाता है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में एक प्रसंग आता है कि वल्लभाचार्य ब्रज यात्रा करते हुए परमानंददास के गृहगाँव कन्नौज में पधारते हैं। वहाँ वल्लभाचार्य उन्हें भगवद्यश गाने को कहते हैं तब परमानंददास मन में विचार करते हैं कि आचार्यजी का मन तो ब्रज के गोवर्धनधारी के पास है, तो विरह पद गा देता हूँ। विरह का ऐसा पद गाते हैं कि वल्लभाचार्य मूर्छित हो जाते हैं –

'हरि तेरी लीलाकी सुधि आवै।।

कमलनैन मनमोहिनी मूरत मनमन चित्र बनावै।।

एक वार जिय मिलत माया करि सो कैसे बिसरावै।।

मुख मुसिक्यान वंक अविलोकन चाल मनोहर भावै।।

क्बहुक निवड़ तिमर आलिंगन कबहुक पिक सुरगावै।।

क्बहुक सक्षम क्वासि क्वासि कहि संगहीन उठि धावैं।।

क्बहुक नैन मूंदि अंतरगति मणिमालापहरावै।।

परमानंदश्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गवावै।।'[26]

परमानंददास ने श्रीनाथ जी के सम्मुख बैठकर पदों की रचना की। जिनमें विरह वर्णन, बाल लीला के साथ–साथ कांता भाव की भी प्रधानता है। परमानंददास गोपी भाव से कृष्ण भक्ति में लीन थे। राघवदास कृत भक्तमाल में भी सारंग शब्द से सम्बोधित किया है। परमानंद की गोपी भाव की भक्ति का चित्रण किया गया है। भक्तमाल में तीन वर्ष की बाल्य अवस्था से ही परमानंद को कृष्ण की गोपी भाव से भक्ति करने का वर्णन मिलता है। इसमें इन्हें किसी गोपी का ही अवतार माना गया है। जो दिन–रात कृष्ण के विरह में अश्रु बहाती रहती है।

गोपी कलि मनु अवतारी, प्रमानंद भयौ प्रेम पर।

बलि अवस्था तीन, गोपी गुण परगट गाये।

नहीं अचम्भा कोई, आदि को सखा सुहाये।

राति दिवस सब रोम उठै, जल बहै द्रिगन तैं।

कृष्ण सोभि तन गलित गिरा, गद–गद सुमगन तै।

संग्या सारंगी कहौ, सुनत कौन आवे सकर।

गोपी कलि मनु अवतरी, प्रमानंद भयो प्रेम पर।।[27]

कुंभनदास

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार कुंभनदास का जन्म क्षत्रिय कुल में जमुनावती गाँव में हुआ। अष्टछाप कवियों की एक विशेषता है कि वह ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव मानव रूप में करते हैं। इनके ईश्वर (श्रीनाथजी) मनुष्य की तरह हँसते, बोलते और वार्तालाप करते हैं। यह इन कवियों की कल्पना मात्र भी कही जा सकती है। ईश्वर से गाय

नहीं चरवा सकते, माखन चोरी नहीं करवा सकते। फिर भी अष्टछाप कवियों के वार्ता साहित्य में जगह–जगह इसका वर्णन मिलता है।

'वार्ता साहित्य' में मलेच्छ आक्रमण का वर्णन मिलता है। एक प्रसंग के अनुसार एक बार एक मलेच्छ का उपद्रव हुआ। मनिकचंदपांडे, सद्दूपांडे, रामदासचौहान, कुंभनदास सब मिलकर विचार करते हैं कि श्रीनाथजी को कैसे बचाया जाए। तत्पश्चात् चारों श्रीनाथजी से ही पूछते हैं, अब क्या करना है ''जो यह मलेक्ष आयौ है सो यह धर्म का द्वेषी है सो कहा कर्तव्य है तब सबने कहा जा यामे कहा कर्तव्य कहा पूछनों अपने बिचारयौ कहा हौत है ताते श्रीनाथजी सो पूछा जो महाराज कहा करें तब श्रीनाथजी ने आज्ञा दीनी जो हमकों यहां ते ले चलो हम यहांते उठेगें तब सबनने पूछो जो महाराज कहां पधारोगे तब अपने श्रीमुख से कह्यौ टोड के घने में चलेगें।''[28] तब एक भैंसे पर बिठाकर श्रीनाथ को वहाँ ले गए। वहाँ घने में काँटे होने के कारण सबके शरीर में काँटे चुभे एवं वस्त्र फट गए। तब श्रीनाथ जी ने कुंभनदास से कुछ गाने के लिए कहा तब कुंभनदास ने कुढ़ कर यह पद गाया–

'भावत है तोय टोड को घनो।।

कांटे लगे गोखरू बूढ़े फटयौ जात यह तनौ।।

सिंहौ कहा लोकटी कोडर यह कहा वानक बन्यौ।।

कुंभनदास प्रभू तुम गोवर्धनपर वह कौन रांडढ़ेडनी को जन्यौ।।'[29]

कुंभनदास जी श्रीनाथजी के प्रति ऐसा प्रेम है कि कुढ़ कर गाए पद में वे उन्हें गाली भी दे देते हैं और वह सुनकर मुस्कुराकर रह जाते हैं। वार्ता साहित्य के एक प्रसंग के अनुसार कुंभनदास को देशाधिपति के बुलावे पर मजबूरीवश कुंभनदास को सीकरी जाना पड़ता है। कुंभनदास उसकी भेजी गई पालकी पर न बैठकर पनहिं पहनकर पैदल ही सीकरी तक जाते हैं। वहाँ पहुँचकर देशाधिपति उन्हें मोती युक्त सिंहासन पर बैठने के लिए कहता है वह मन ही मन दुखी हो जाते हैं। देशाधिपति द्वारा उन्हें पद सुनाने के लिए कहने पर वह यह पद गाते हैं

'भक्तजन को कहा सीकरी सो काम।।

आवत जात पन्हैया टूटी विसर गयौ हरिनाम।।

जाको मुखदेखे दुख लागै ताकोकरनपरीपरनाम।।

कुंभनदासलालगिरधर बिन यह सब झूठौ धाम।।'[30]

कुंभनदास का यह पद सुनकर देशाधिपति का मन बहुत कुढ़ता है और वह कहता है कि इन्हें कोई लालच हो तो मेरा गुण गाये। इन्हें तो अपने परमेश्वर से ही स्नेह है। वार्ता साहित्य के राजा मानसिंह और देशाधिपति के प्रसंग से पता चलता है कि एक साधारण परिवार में जन्में कुंभनदास को किसी भी प्रकार की आसक्ति, माया, मोह एवं लालसा नहीं थी।

कृष्णदास

कृष्णदास बचपन से ही सत्यवक्ता एवं विरक्त थे। ''कृष्णदास अधिकारी का जन्म गुजरात में राजनगर (अहमदाबाद) राज्य के एक चिलोतरा गाँव में हुआ।''[31] वार्ता साहित्य में इन्हें शूद्र कहा गया है। शूद्र होते हुए भी वल्लभाचार्य द्वारा इन्हें अष्टछाप कवियों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। कृष्णदास के विषय में वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि यह पुष्टिमार्गीय सिद्धांत को ही महत्व देते थे। एक प्रसंग में कृष्णदास यह कहकर मीरा की उपहार स्वरूप में दी गई भेंट अस्वीकार कर देते हैं ''जो तू श्रीआचार्यजी महाप्रभूनकी सेवकनाहीं होत ताते तेरी भेंट पर हाथते छूवेंगे नाहीं।''[32] कृष्णदास किसी अन्यमार्गी की भेंट स्वीकार नहीं करते थे। साथ ही साथ उन्हें अपने गुरू पर एवं जाति पर भी अभिमान था ''तब एक वैष्णवनें कह्यौ जो तुमने श्रीनाथकी भेंट नाहीं लीनी तब कृष्णदास ने कह्यौ जो भेंटकी कहां है परि मीरांबाई यहां जितने सेवक बैठे हुताके तिन सबनकी नाक नीचे करिकें भेटफेरी है इतने इकठोंरे कहां मिलते यह हूं जानेंगे जो एकवेर शूद्र श्रीआचार्य महाप्रभून कौ सेवक आयौ हुतो ताने भेंट न लीनी तो तिनके गुरूकी कहाबात होयगी।'[33]

वार्ता में एक प्रसंग आता है कि एक बार कृष्णदास श्रीनाथजी के भोग की सामग्री लेने आगरा गए। विद्वानों द्वारा यह बात कही गई है कि कृष्णदास रसिक थे, वे वेश्या

पर मोहित हो गए थे। वार्ता के अनुसार ''सो वह वेश्या बहुत सुंदर और गावै बहुत आछौ नृत्य तेसोइकरे सो कृष्णदास वा के ऊपर रीझै और मन में कहे जो यह तौ श्रीनाथजी के लायकौ ता पाछै वा वेश्याकों दश्मुद्रातों उहांही दीये और कही रात्रि को समाज सहित आइयौ।''[34] इस प्रसंग के कारण कृष्णदास की आलोचना होती है। वस्तुतः स्थिति अन्य भी हो सकती है। वार्ता से ऐसा ज्ञात नहीं होता कि उनका चरित्र दुर्बल था। पुष्टिमार्ग की विशेषता है कि इस सिद्धांत मार्ग के द्वार सबके लिए खुले हैं, ऊँच–नीच का कोई भेदभाव नहीं। यदि कृष्णदास उस वेश्या का मन श्रीनाथ की ओर समर्पित करते हैं तो इससे समाज में एक ऐसा तबका जिसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, को मंदिर के द्वार तक पहुँचा देते हैं। वेश्या जब उनके सामने नृत्य करती है तब कृष्णदास उस वेश्या को कहते हैं ''तो तेरौ गानहू आछौ और नृत्यहू आछौ परिहमारो सेठ है सो तेरे ख्यालटप्पा ऊपर रीझेगो नाहीं ताते हों कहों सो गाइयौं।''[35] कृष्णदास द्वारा रचित पद वेश्या श्रीनाथ के सम्मुख गाती है और अंततः श्रीनाथ के दिव्य स्वरूप में विलीन हो जाती है।

''मोमन गिरधर छबिपर अटक्यौ।।

ललित त्रभंगी अंगन परिचलिगयौ तहांईठटक्यौ।।

सजल श्यामघन चरणनीलह्वै फिरचित अनितनभटक्यौ।।

कृष्णदास कियोप्राणन्यौछावरि यह तन जगसिरपटक्यौ।।[36]

प्रस्तुत प्रसंग से ज्ञात होता है कि कृष्णदास उस वेश्या और श्रीनाथजी के मिलन में एक मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। श्रीनाथजी से मिलवाकर वह उस वेश्या का उद्धार ही करवाते हैं। राघव दास कृत भक्तमाल की चतुरदास टीका में कृष्णदास के जीवन से संबंधित वर्णन मिलता है।

'दास जु कृष्ण करयौ रसरास सु, प्रेम धरयौं उह नाथ बरयौ है।

होत बजार जलेबि दिली, अरपी प्रभु आपहि भोज करयौ है।

नांचनि को अति राग सुन्यौ यह, नाथ सुनै सुर चित्त धरयौ है।

रीझि गये उन पासि बुलावत, साथि चलावत लाज तरयौ है।।

मंजन अंजन कौ करवाइ, सुबास लगाइ र देवल ल्याये।

देखि हुई मत लेत भई गति, लाल कई लखि मोहि सुहाये।

नाचत गावत भाव दिखावत, नाथ रिझावत नैन लगाये।

होत भई तदकार तज्यौ तन, आप मिलाइ लई सु रिझायै।'[37]

श्री गुसांई जी को कृष्णदास के कारण छः महीने श्रीनाथजी से दूर पारसोली ग्राम में रहना पड़ता है इसका विवरण वार्ता में मिलता है। कृष्णदास अपनी कुशाग्र बुद्धि से मंदिर के बंगाली सेवकों को बाहर कर देते हैं तथा कृष्णदास के विषय में वार्ता साहित्य में एक प्रसंग मिलता है कि अंत समय में माया के प्रति मोहित हो जाते हैं। एक वैष्णव कृष्णदास को 300 मुद्राएँ कुंआ बनवाने के लिए देता है और वो उसे बचा लेते हैं। अंततः उसी कुएँ में फिसल कर उनकी मृत्यु हो जाती है।

मानवीय विकृतियों को उजागर करता कृष्णदास का चरित्र कई जगह सुदृढ़ दिखाई पड़ता है। जहाँ ब्राह्मण का भोजन त्यागकर वह सन्मार्गी शूद्र के यहाँ का भोजन ग्रहण करते है, मीरा की भेंट अस्वीकार कर देते हैं। वहीं विषय विकारों में भी फँसे दिखाई देते हैं। तथापि वह श्रीनाथजी के परम प्रिय सखा रहे तथा अष्टछाप में स्थान प्राप्त करते हैं। कृष्णदास की प्रारंभिक भाषा गुजराती थी तथा कार्य व्यवहार में कुशल होने के कारण उन्हें मंदिर का अधिकारी बनाया गया। हिसाब किताब वह गुजराती भाषा में करते थे। वे ब्रज भाषा के भी अच्छे जानकार थे। इनकी रचनाएँ श्रृंगार प्रधान हैं, जहाँ राधाकृष्ण की युगल छवि का वर्णन है।

नंददास

'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के अनुसार नंददास सनाढ़य ब्राह्मण थे। वे रामपुर में रहते थे। वार्ता में नंददास को तुलसीदास का छोटा भाई कहा है। ये संस्कृत भाषा के विद्वान थे। ब्रज भाषा का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। प्रारम्भिक अवस्था में इनकी लौकिक विषयों में अधिक रूचि थी। वार्ता में एक प्रसंग आता है कि एक बार नंददास तुलसीदास से प्रार्थना करते हैं कि मैं रघुनाथजी का सेवक हूँ। लेकिन एक बार रणछोड़ जी के दर्शन को जाऊँगा। तुलसीदास समझाते हैं कि तू वहाँ तक नहीं पहुँच पाएगा, मार्ग में बहुत दुख है। तुलसीदास उनकी चित्तवृति से भलीभांति परीचित थे। उन्होंने समझाया लेकिन वे नहीं माने और मार्ग में एक स्त्री पर आसक्त हो गए। उसका मुख देखने दिन में एक बार अवश्य जाते। स्त्री के परिवार वाले दुखी होकर गाँव छोड़ गोसाईं जी के पास गोकुल गए, वहीं नंददास भी पहुँच गए। वहाँ गोसाईंजी से मिलकर उनकी बुद्धि निर्मल हुई और उन्हें विषय विकारों से मुक्ति मिली।

एक अन्य प्रसंग वार्ता में आता है तुलसीदास नंददास को लिवाने मथुरा आते हैं। तुलसीदास को ज्ञात होता है कि नंददास गोसाईंजी के सान्निध्य में आ गए हैं। तो वह समझ जाते हैं कि अब नंददास को उनकी शिक्षा नहीं लगेगी। तब वह एक पत्र वैष्णव के द्वारा नंददास के पास भेजते हैं 'जो– तू पतिव्रत धर्म छोडि व्याभिचार धर्म लियो, सो आछौ नाहीं कियो। अब तू आवे तो फेरि तोको पतिव्रत धर्म बताऊँ।'[38] नंददास पहले रामभक्त थे। जब रणछोड़जी के दर्शन को गए, फिर ब्रज में ही आकर बस गए। एक बार तुलसीदास की ब्रज की शोभा देखकर सोचते है कि अब नंददास वापस रामजी की सेवा में नहीं जाएंगे। फिर भी पत्र लिखते हैं, उनके पत्र का उत्तर नंददास इस प्रकार देते हैं ''जो– मेरौ तो प्रथम रामचंद्रजी सो विवाह भयो हतो। सो बीच में श्रीकृष्ण दौरि आइ के लूटि ले गए। सो रामचंद्रजीमें जो बल होतो तो मोको श्रीकृष्ण कैसे ले जाते? और श्रीरामचंद्रजी तो एक पत्नीव्रत है। सो दूसरी पत्नी को कैसे संभार सकेंगे? एक पत्नी हू बराबरि संभारि न सकें। सो रावण हरि के ले गयो। और श्रीकृष्ण तो अनंत अबलान के स्वामी है, और इनकी पत्नी भये, पाछे कोई प्रकार कौ भय रहे नाहीं है।''[39] नंददास ने श्रीकृष्ण के प्रति समर्पण भाव रखते हुए

उन्होंने तन, मन, धन यह लोक, परलोक श्रीकृष्ण को ही दे दिए हैं। अब मैं इन्हीं के वश में हूँ। तुलसीदास एक बार फिर प्रयत्न करते हैं। नंददास को वापस ले जाने का 'जो– तुम हमारे संग चलो। सो गाम रूचे तो चित्रकूट में रहो, वन रूचे, तो दण्डकारण्य में रहो। ऐसे बड़े–बड़े धाम श्रीरामचंद्रजी ने पवित्र किए हैं।'[40] तब नंददास एक पद की रचना कर तुलसीदास को सुनाते है

'जो गिरी रूचे तो बसो श्रीगोवद्र्धन, गाम रूचे तो बसो नंदगाम।

नगर रूचे तो बसो श्रीमधुरी सोभा सागर अति अभिराम।।

सरिता रूचे तो बसो श्रीयमुनातटे, सकल मनोरम पूरन काम।।

'नंददास' कानन रूचे तो बसो भूमि वृंदावन धाम।।'[41]

जितना प्रेम तुलसीदास का श्रीराम पर है उतना ही नंददास का कृष्ण पर है। यहाँ पर तुलसीदास राम और कृष्ण दोनों को पृथक मान रहे हैं। तुलसीदास केवल श्रीनाथ के आगे ही नमन करते थे। नंददास श्रीनाथजी से प्रार्थना करते हैं–

'कहा कहों छवि आज की, भले बने हो नाथ

तुलसी मस्तक तब नमे, धनुषबान लेहु हाथ।'[42]

वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि नंददास ने 'श्रीमद्भागवत दशम' भाषा संपूर्ण की। तब मथुरा के सभी पंडितों ने मिलकर गोसाईं जी से प्रार्थना की कि नंददास ने भाषा में श्रीमद्भागवत कही है, अब हमारी कथा कोई नहीं सुनेगा। अब हमारी जीविका कैसे चलेगी? तब गोसाईंजी के कहने पर उन्हें ब्रजलीला तक ही भागवत रखी बाकी यमुना में प्रवाहित कर दी। 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि अकबर और बीरबल के सामने ही नंददास ने मानसी गंगा के पास देह छोड़ दी। नंददास आसक्त होकर भी विरक्त जान पड़ते हैं। वे कृष्ण के एकनिष्ठ भक्त थे।

छीतस्वामी

'वार्ता' में छीतस्वामी को मथुरा का चौबे बताया है। उनको सब छीतू कहकर बुलाते। वार्ता में इन्हें पहले कुटिल बुद्धि वाला बताया है। ये और इनके चार मित्र, पाँचों मिलकर स्त्रियों से मसखरी करते थे। 'वार्ता' के एक प्रसंग में यह गोसाईंजी के साथ कुटिल विद्या करने एवं उनकी परीक्षा लेने जाते हैं। थोथे नारियल में खोटा सिक्का लेकर ये गोसाईंजी को भेंट स्वरूप देते हैं। वहाँ जाते ही गोसाईं जी के दर्शन कर उनसे यह भाव छूट जाता है। उस समय छीतस्वामी यह पद गाते हैं–

'भई अब गिरधर सो पहिंचान।

कपटरूप धरि छलिवे आयों, पुरूषोत्तम नहिं जान।

छोटो बड़ो नहिं जान्यों, छाय रह्यो अज्ञान।

छीतस्वामी देखत अपनायो, श्रीविट्ठल कृपानिधान।।'[43]

प्रस्तुत पद से ज्ञात होता है छीतस्वामी पहले से ही कविता करते थे। वल्लभाचार्य के सम्मुख उन्होंने प्रस्तुत पद गाया। छीतस्वामी बीरबल के पुरोहित थे। छीतस्वामी ने बीरबल के समक्ष गोस्वामी विट्ठलनाथ को कृष्ण का अवतार मानकर उनकी प्रशंसा में एक पद गाया–

'जै जै जै श्रीवल्लभराजकुमार।

परमानंददास कपट खंडन करि सकल वेद उद्धार।।

परम पुनीत तपोनिधि पावन तन सोभा जुत सार।

निगम सुकमुख कथित कृष्णलीलामृत सकल जीव निस्तार।।

निजकल सुदृढ़ सुकुत सब कौ फल नवधा भक्तिप्रकार।

दुरत दुरित अचेत प्रेत गति हतित पतित उद्धार।।

नहीं मति नाथ कहां लों बरनों अगनित गुन विस्तार।

छीतस्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल प्रगट कृष्ण अवतार।।'[44]

विट्ठलनाथ को कृष्ण रूप मानकर उनकी प्रशंसा में गाया पद बीरबल को पसंद नहीं आया। छीतस्वामी कृष्ण के साथ साथ गुरूभक्त थे। इस पर अपने विश्वास का अपमान समझकर छीतस्वामी बिना 'बरसोंडी' लिए चले गए। इससे यह ज्ञात होता है इन्हें धन–द्रव्य की कोई लालसा नहीं थी।

गोविंदस्वामी

'वार्ता' में गोविंदस्वामी को सनोढ़िया ब्राह्मण बताया है। ये महावन में रहते थे। इन्हें कविश्वर बताया गया है। जो इनके पद सीख कर गोसाईं जी के आगे गाता उससे गोसाईं जी बहुत प्रसन्न होते। इनकी इच्छा गोसाईं जी से मिलने की हुई। वे एक वैष्णव के साथ गोस्वामी विट्ठलनाथ से मिले। उस समय गोस्वामी विट्ठलाथ कर्मकांड कर रहे थे। तब गोसाईंजी से गोविंदस्वामी कहते हैं, ''जो महाराज! आप तो कपट रूप दिखावत हो और आप के यहां तो साक्षात् प्रभु विराजत है।''[45] तब गोसाईं जी गोविंदस्वामी को बताते है भक्तिमार्ग फलरूपी है और कर्ममार्ग कांटारूपी है ''सो फूल तो रक्षा बिना फूले न रहे। ताते वेदोक्त कर्ममार्ग है सो भक्तिरूपी फूलन को कॉंटेन की बाड़ है। तातें कर्ममार्ग को बाड़ बिना भक्तिरूपी फूल को जतन न होय, तब जन्म बिना फूल हु न रहें।''[46] 'पुष्टिमार्गीय सिद्धांत' भक्ति करने के साथ–साथ कर्म को भी महत्त्व देता है। गोविंदस्वामी श्रीविट्ठलनाथ का यह उत्तर सुनकर संतुष्ट हो जाते हैं।

'वार्ता' से ज्ञात होता है कि गोविंदस्वामी कभी यमुना में स्नान नहीं करते थे। यह पाग भी बहुत अच्छी बाँधते थे। 'वार्ता' में प्रसंग है कि गोविंदस्वामी ने श्रीनाथजी की पाग सवार दी। तब एक भीतरिया ने श्रीगुसाईंजी से कही, ''जो–महाराज! गोविंददास श्रीनाथजी को छूये हैं। (जो) मंदिर के भीतर जाय कै श्रीनाथजी के पाग के पेच संवारे है''[47] उत्तर में

गोसाईंजी कहते हैं, ''यातें उन के छुये तें अपरत छुये जाय नहीं। और वैसे हू ब्राह्मन है, तातें वेद मर्यादा हू में हानि आवत नाहीं।''[48] प्रस्तुत प्रसंग में समाज में व्याप्त ब्राह्मणवादी व्यवस्था का पता चलता है। छूआछूत की भावना तत्कालीन समाज में विद्यमान थी। किन्हीं परिस्थितियों के कारण तत्कालीन समाज में शूद्रों ने मंदिरों में प्रवेश पा लिया था। लेकिन मूर्तियों को स्पर्श करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था।

'वार्ता साहित्य' के प्रसंगों में कई बार आया है कि गोविंदस्वामी श्रीनाथजी के प्रिय सखा हैं। उनके साथ हँसते, खेलते और खेल खेल में वापस उन्हें कंकरी भी मार देते। एक बार भैरव राग गाने पर गोविंदस्वामी की किसी मलेच्छ ने प्रशंसा कर दी फिर उन्होंने भैरव राग नहीं गाया 'जो–मलेच्छ ने सराह्यो है, सो राग श्रीगोवर्द्धननाथजी के आगे कैसे गाऊं ? राग तो छी गयो।'[49] इसी प्रसंगवश गोविंदस्वामी साम्प्रदायिक भावना से प्रोत नजर आते हैं।

'भक्तमाल' के एक प्रसंग में कृष्ण के साथ खेल में झगड़ने तथा दूसरे प्रसंग में उनका भोग पहले पाने का विवरण है। सख्य भाव की भक्ति का वर्णन इस प्रकार दिया गया है–

'गोवर्द्धननाथ साथ खेले सदा झेले अंग सख्य भाव हिये गोविंद सुनाय है।

स्वामी करि ख्याल ताकी बात सुनिलीजे नीके सुने सरसात नयन रीति अभिराम है।

खेलत हौ लाल संग गयो उठि दांव लै कै मारी खेच गिली देखि मंदिर में श्याम है।

मानि अपराध सा धूधका दै निकारि दियो मति सो अगाध कैसे जाने वह बाम है।'[50]

'भक्तमाल' में गोविंदस्वामी का इतना ही विवरण है कि वह श्रीनाथ जी के परम सखा हैं, गोवर्द्धननाथ के साथ नित्य खेलते हैं। प्रस्तुत छंद में श्रीनाथजी और गोविंदस्वामी गुल्ली डंडा खेलते हैं। गोविंदस्वामी की बारी आने पर श्रीनाथजी मंदिर में भाग जाते हैं। जिस कारण गोविंदस्वामी श्रीनाथ जी को गुल्ली मारते हैं। ऐसा देखकर गुसाईंजी गोविंदस्वामी को डांट कर मंदिर से बाहर निकाल देते हैं। बाद में गोविंदस्वामी के सखा भाव को देखकर उनके नेत्र सजल हो जाते हैं। राघवदास कृत भक्तमाल की चतुरदास टीका के अंतर्गत भी इसका

वर्णन आता है। एक छंद में गोविंदस्वामी, श्रीनाथजी से पहले ही उनका भोग माँगने की हठ करते हैं। कारण जानने पर वह बताते हैं कि वह (श्रीनाथजी) पहले भोग लगाकर वन में चले जाते हैं। मैं बाद में जाता हूँ तथा वह मुझे वहाँ न पाकर निराश हो जाते हैं। यह सुनकर पुजारी की भी आँखे भीग जाती हैं

'भोग लगावन मंदिर ल्यावत, मांगत है पहिलै मम दीजै।

थारहि डारत जाइ पुकारत, कोप करयौ यह सेवन लीजै।

आइ कही जन कौंन बिचारत, खोलि सुनावंत कोन धरीजै।

जोम रू पैलहि जावत है बन, मोहि न पावत यौं सुनि भीजै।'[51]

'वार्ता' में उनके हँसमुख प्रवृति के होने का पता चलता है। गोविंदस्वामी एक दिन महावन से गोकुल आ रहे होते हैं तो कोई ब्रजवासी उनके माथे से पगड़ी उतार लेता है। तब वह उससे कहते हैं, 'जो–सारे! सेलह टूक हैं, समारि लीजो, हों सकारे तेरे घर आय कै ले जाउंगो।'[52] इनकी पगड़ी सोलह जगहों से फटी हुई थी किंतु वह इस तरह से बाँधते थे कि बंधी हुई सुंदर दिखाई देती। उपरोक्त कथन सुनकर वह ब्रजवासी शर्मिंदा होकर पाग लौटा देता है।

गोविंदस्वामी का गोविंद के प्रति स्नेह उन्हें गोविंददास बना देता है। गोविंददास की बेटी इनके पास थोड़े समय रहने आती है किंतु वे उससे कभी बात नहीं करते। इनकी बहन कानबाई के कहने पर कि वह अपनी पुत्री से बात क्यों नहीं करते। गोविंददास कहते हैं, 'जो कन्हीयां! मन तो एक है। सो ठाकुर जी में लगाउं के बेटी में लगाउं?'[53] गोविंददास श्रीनाथजी के परमसखा थे। अपनी बातों को निसंकोच कहने वाले एवं हँसमुख कृष्णभक्त थे।

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास कुंभनदास के पुत्र थे। इनका जन्मस्थान ब्रज का जमुनावतो गाँव तथा जाति गोरवा क्षत्री थी। ये परम भागवत्भक्त थे। इस कारण कुंभनदास का इनके प्रति विशेष प्रेम था। चतुर्भुदास बाल अवस्था में ही पद रचना करने लग गए थे।

'सेवक की सुखरासि सदा श्री वल्लभराजकुमार।

दरसन ही तें होत प्रसन्न मन श्रीपुरोषोत्तम लीला अवतार।।

सुदृष्टि चिते सिद्धांत बतायों लीला एक अनुसार।

यह व्यजि आन ज्ञान को धावत भूले कुमति विचार।।

जके कहे गही भुज दृढ़ करि श्रीगिरिधर नंददुलार।

'चतुर्भुज' प्रभु उद्धरे पतित श्रीविट्ठल कृपा उदार।।'[54]

वार्ता से ज्ञात होता है कि अबोधबाल अवस्था से ही चतुर्भुजदास पदों की रचना करने लगे तथा कुंभनदास के साथ भगवत चर्चा करते थे। वार्ता के एक प्रसंग में आता है कि कुंभनदास और चतुर्भुजदास दोनों जमुनावत ग्राम में अपने घर बैठे हुए थे तो अर्द्ध रात्रि में श्रीनाथजी के मंदिर में दीया जलते देखकर कुंभनदास चतुर्भजदास को एक पद सुनाते हैं ''वे देखो बरत झरोखन दीपक हरि पोढ़े उंची चित्रसारी।''[55] इतना पद गाकर कुंभनदास चुप हो जाते हैं तब सुनकर चतुर्भुजदास इस पद को पूरा करते हुए गाते हैं ''सुंदर बदन निहारन कारन राखे है बहुत जतन करि प्यारी।''[56] यह सुनकर कुंभनदास प्रसन्न हो जाते हैं। कुंभनदास रहस्य लीला वार्ता सब चतुर्भुजदास को सुनाते। चतुर्भुजदास ने विरह के पदों की रचना भी की है–

'बात हिलग की कासों कहिए।

सुनरी सखी बिबस्था या तन की समझ मन चुप करि रहिए।

मरमी बिना मरम को जाने यह उपहास जानि जग सहिए।

'चतुर्भुजदास' गिरिरधरन मिले जब तब ही सब सुख लहिए।'[57]

चतुर्भुजदास, कुंभनदास के सात पुत्रों में से सबसे प्रिय पुत्र थे। चतुर्भुजदास के पदों में श्रृंगार वर्णन के साथ–साथ विरह के पद मिलते हैं। यह श्रीनाथजी के अंतरंग सखा हैं।

अष्टछाप कवियों की भक्ति का दार्शनिक आधार

अष्टछाप के सभी कवि वल्लभ संप्रदाय से दीक्षित थे। वल्लभाचार्य ने भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण कर मायावाद का खंडन एवं ब्रह्मवाद और भक्तिवाद का प्रचार किया था लेकिन मूलतः ब्रज को ही उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया तथा श्रीनाथजी का विशाल मंदिर बनवाकर पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित अपने शिष्यों को कीर्तन सेवा का भार सौंपा था। अष्छाप कवियों ने वल्लभ संप्रदाय की मान्यताओं के आधार पर ही काव्य रचना की। ये सभी स्वभाव से भक्त थे, दार्शनिक नहीं। जिस कारण इन कवियों ने दार्शनिक गुत्थियों में उलझने की चेष्टा नहीं की। श्रीकृष्ण लीलागान ही उनका प्रमुख लक्ष्य था। यत्र–तत्र ब्रह्म, जीव, जगत, मोक्ष की चर्चा इन कवियों ने की है। इनके दार्शनिक सिद्धांत एवं मान्यताएँ इनके गुरू वल्लभाचार्य के समान हैं।

ब्रह्म

अष्टछाप कवियों ने श्रीकृष्ण को ही सर्वस्व मानकर उन्हें ही परब्रह्म की संज्ञा दी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, ''श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो दिव्य गुणों से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम रूप में रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएँ नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए 'व्यापी वैकुंठ' में (जो विष्णु के वैकुंठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीडाएँ करते रहते हैं। गोलोक इसी व्यापी वैकुंठ का एक खंड है जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृंदावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ हैं। भगवान् की इस 'नित्यलीला सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।''[58] श्रीकृष्ण संबंधी अष्टछाप कवियों की मान्यताओं का वर्णन शुक्ल जी ने अत्यंत सरल शब्दों में,

अद्‌भुत वर्णन किया है। अष्टछाप कवियों ने श्रीकृष्ण को आदि, अनादि, अनुपम, अखंडित और रस रूप माना है। 'मायारानी टंडन' अष्टछाप कवियों की ब्रह्म संबंधी मान्यताओं का वर्णन इस प्रकार करती हैं ''वेद, उपनिषद् आदि में जिस ब्रह्म को 'निर्गुण और मन–बानी से अगम–अगोचर' कहा गया है अथवा जिसके संबंध में 'नेति' कहकर बुद्धि या समझ की परिमिति स्वीकार की गई है, वही भक्तों के वश होकर, उनकी इच्छा की पूर्ति के लिए या रक्षा करने के उद्‌देश्य से सगुण रूप में अवतार लेता है।''[59]

जीव

अष्टछाप कवियों ने 'जीव' की उत्पत्ति ईश्वर के अंश से और उसी की इच्छा से मानी है। ''कृष्णदास, कुंभनदास तथा गोविंदस्वामी ने जीव के स्वरूप, उत्पत्ति तथा ब्रह्म के साथ उसकी उत्पत्ति का कोई दार्शनिक विचार अपनी रचनाओं में प्रकट नहीं किये हैं। चतुर्भुजदास और छीतस्वामी ने ईश्वर और जीव की अद्वैतता स्वीकार की है। छीतस्वामी के अनुसार जीव कृष्ण रूप ही है।''[60] अष्टछाप कवियों के अनुसार अंश कभी पूर्ण के बराबर नहीं हो सकता। जीव, ब्रह्म का अंश है। ''परब्रह्म का अंश होते हुए भी 'जीव' एक बात में उससे भिन्न है। वह यह कि जहाँ जीव काल, कर्म और माया के अधीन होने के साथ विधि निषेध और परब्रह्म इन सबसे परे रहता है।''[61] जीव सांसारिक मोह–माया के बंधनों में जकड़ा हुआ है, किंतु ब्रह्म इन सब बातों से परे है।

जगत

अष्टछाप कवियों ने 'जगत' को परब्रह्म द्वारा उसी से उत्पन्न होकर उसी में वैसे ही समा जाना मानते हैं, जैसे पानी से बना हुआ बुलबुला फिर उसी में विलीन हो जाता है। परमानंददास दृश्यमान जगत को कृष्ण रूप ही मानते हैं। ''परमानंददास उस दिव्य देश में जाने को कहते हैं, जहाँ सांसारिक क्लेशों का अभाव है। वही जाकर जीव के अविद्या जनित क्लेश और पाप ताप नष्ट हो जाते हैं–

जाइए वह देय जहां नंदनंदन भेटिये।

निरखिये मुख कमल कांति, विरह ताप मेटिये।।''[62]

माया

अष्टछाप कवियों ने माया के दो रूपों का वर्णन किया है। एक है विद्या माया और दूसरी अविद्या माया। ''माया का द्वितीय रूप का कार्य जीव को संसार और सांसारिकता से जकड़े रहने का रहता है तथा प्रथम अर्थात् विद्या–माया, परब्रह्म की इच्छानुसार, सृष्टि की रचना अथवा उनका नाश करने के साथ–साथ ईश प्रेरणा से जीव को अविद्या–माया के बंधन से मुक्त भी करती है।''[63] अष्टछाप कवियों ने अविद्या माया का वर्णन विस्तार से तथा विद्या माया का वर्णन संक्षेप में किया है।

मुक्ति

सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाना मोक्ष का एक रूप है। अष्टछापी कवियों ने ज्ञानमार्गी मुक्ति की अपेक्षा प्रेममार्गी भक्ति को अधिक महत्व दिया है। ये कवि मानते हैं कि जब भगवद् भजन से सब प्राप्त किया जा सकता है तो जीव व्रत, नियम, उपवास आदि द्वारा स्वयं को कष्ट क्यों देता है?

अष्टछाप कवि कहते हैं कि कृष्ण नाम सर्वशक्तिमान है। जिसके द्वेष भाव से भी स्मरण होने पर जीव मुक्ति को प्राप्त करता है। नंददास कहते हैं–

'महाद्वेष कर महाशुद्ध शिशुपाल भयौ जब।

मुकुत होत वह दुष्टजनौ कछु संग न गयौ तब।।'[64]

अष्टछाप कवियों ने ईश्वर के दर्शन, भजन, कीर्तन, सेवा को परम सुख माना है। जिसको भगवद् सेवा में सुख मिलता है उसके लिए फिर सारे सुख तृणवत् हो जाते है।

4.4 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

छठी शताब्दी में जिन परिस्थितियों के कारण दक्षिण प्रदेश में आल्वारों का भक्ति आंदोलन घटित हुआ, ठीक वैसी ही परिस्थितियाँ चौदहवीं–पंद्रहवीं शताब्दी में हिंदी प्रदेश में मौजूद थी। कहा जाता है कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। वास्तव में यह भक्ति आंदोलन इतिहास की पुनरावृत्ति ही था।

4.4.1 उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ

भक्ति आंदोलन की शुरुआत एकदम से नहीं हो गई थी इसके पीछे राजनैतिक परिस्थितियाँ काफी हद तक जिम्मेदार थी। भारत में समय समय पर विदेशी आक्रमण होते रहे। जिसमें कासिम ने अपने रण कौशल द्वारा राजा दाहिर को 712 ई० में परास्त कर सिंध को अरब सत्ता के अधीन कर लिया। इसके तीन सौ वर्षों बाद ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनबी ने भारत पर अनेक आक्रमण किए। इसके दो सौ वर्षों बाद शहाबुद्दीन गौरी ने भारत पर अनेक आक्रमण किए। शहाबुद्दीन गौरी ने सत्रह बार पृथ्वीराज चौहान से परास्त होकर अंततः 1192 ई० में तराईन के युद्ध में उसे परास्त किया। शहाबुद्दीन गौरी के सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में मुस्लिम शासन की स्थायी नींव 1206 ई० में डाली थी। तुर्क मुसलमानों द्वारा उत्तरी भारत पर आक्रमण तेरहवीं शताब्दी की एक ऐतिहासिक घटना है। तुर्कों की विजय के परिणामस्वरूप विदेशी साम्राज्य का भारत में विस्तार हुआ।

तेरहवीं–पंद्रहवीं शताब्दी तक मुसलमान भारत में बस गये थे, मुसलमान आक्रमणकारी अब दिल्ली के शासक बन चुके थे। भारत में इससे पहले भी शक, हूण, यवन, आभीर, कुषाण आदि विदेशी जातियाँ आई और वे भारत की चिर पुरातन वर्णाश्रम व्यवस्था में खप गई। इस दासत्त्व की अवस्था तक पहुँचने में तत्कालीन हिंदू राजाओं की तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए इतिहासकार 'इब्ने हसन' कहते हैं, ''राजपूत राजकुमारों की चक्रवर्ती कहलाने की आकांक्षाओं और उससे उत्पन्न आपसी प्रतिद्वंदिता और युद्ध ने उनकी शक्तियों को विभाजित कर दिया और राज्यकर्ता शासकों के लिए सामान्य संगठित कार्यवाही का कोई अवसर शेष न रहा। जाति की कठोरता ने समाज को और भी छोटे–छोटे समूहों में बांट दिया। इससे उदासीनता की भावना पैदा हुई और

सामान्य हित का कोई क्षेत्र न बचा। इससे जनता की लड़ने की शक्ति का ह्रास हुआ और अंत में राष्ट्रीय भावना पर कुठाराघात हुआ। अंततः संकुचित अदूरदर्शी और शेष विश्व से कटा हुआ हिंदू राज्य समय के साथ न चल सका और निरंतर होनेवाले बाहरी हमलों के विरूद्ध साधन जुटाने में असफल रहा। अखिरकार 13वीं सदी में वह एक झंझावत में फंसकर ध्वस्त हो गया जिसे वह झेल पाने में असमर्थ था।''[65] राजनीतिक दृष्टि से यह काल संघर्ष का काल रहा। उत्तरी भारत की राजकीय सत्ता का मुख्य केंद्र दिल्ली रहा था। दिल्ली पर शासन करने वाला उत्तरी भारत का मुख्य शासक समझा जाता था। इस काल के पूर्वार्द्ध में दिल्ली में तुगलक वंश और लोदी वंश के शासकों का युग रहा और तत्पश्चात् बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का शासनकाल रहा।

अकबर के काल की राज व्यवस्था का वर्णन करते हुए इरफान हबीब कहते हैं, ''अकबर के काल में एक समन्वित राज व्यवस्था के विकास के साथ वर्गीय हितों का एकीकरण भी हुआ। हाँलाकि उस समय आधुनिक अर्थ में 'राष्ट्र' की कोई धारणा संभव नहीं थी, फिर भी मुगल साम्राज्य में राजपूत रजवाडों का एकीकरण भारत की भौगोलिक धारणा को एक राजनीतिक इकाई का रूप देने की प्रक्रिया में निश्चित ही एक अग्रगामी कदम था।''[66]

बहलोल लोदी से लेकर अकबर तक मुसलमान शासकों के सन् (1451ई०–1605ई०) मध्यकालीन शासन के दौरान देश की राजनैतिक स्थिति अस्थिर रही थी। इसी काल के दौरान ई० सन् 1468 से 1585 तक अष्छाप कवियों का समय पड़ता है। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में अपेक्षाकृत राजनीतिक शांति थी। राजनीतिक दृष्टि से यह काल युद्ध, विद्रोह तथा संघर्ष का काल रहा है। यद्यपि शासकों ने प्रजा के लिए कल्याणकारी कार्य भी किए, शासन में सुधार, कर–नीति में परिवर्तन किए, परंतु इन शासकों का अधिकांश समय अपनी राज्य सत्ता का विस्तार करने, आंतरिक विद्रोह को दबाने तथा बाहरी संघर्षों से निपटने में बीता।

4.4.2 उत्तर भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी कोई विचार आंदोलन का रूप लेता है, तब उसे व्यापकता समाज ही प्रदान करता है। भक्ति आंदोलन के समय समाज और आम जनता का एक साथ आंदोलन में जुड़ जाना इस बात को प्रमाणित करता है क्योंकि उस समय की सामाजिक स्थिति ऐसी बन गई थी कि प्रतिरोध किए बिना समाधान मिलने की कोई गुंजाइश नहीं थी। देश की राजनैतिक स्थितियों का सामाजिक स्थिति पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

मुगलकाल में स्त्रियों की दशा अधिक सोचनीय थी। उसे मात्र भोग्या समझा जाता था। समाज में अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ व्याप्त थी जिनका सामना हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्म की स्त्रियों को करना पड़ता था। मुसलमान शासकों के हरम में अनेक स्त्रियाँ दासी बनकर रहती थीं। हिंदू समाज में स्त्रियों के अधिकार सीमित थे। वे जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुष के संरक्षण में रहती थी। पुरुष प्रधान समाज में केवल पुरुषों को ही महत्व दिया जाता था। हिंदू हो या मुसलमान पुत्र जन्म हर्षोल्लास का कारण माना जाता था। समाज में पुत्रियों का जन्म विशेष प्रसन्नता की बात नहीं थी। डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय अपनी पुस्तक 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास' में कहते हैं, ''मंदिरों में स्त्रियाँ देवदासियों के रूप में रखी जाती थी, जो नृत्य या संगीत में भाग लेती थी। हिंदू धर्मशास्त्रों में बहुविवाह अच्छा नहीं कहा गया है सामान्यतः राजा और उच्च वर्ग के लोग ही बहुविवाह करते थे। मुसलमानों के भय एवं अत्याचार के कारण बाल्यावस्था में विवाह कर देने के लिए स्मृतिकारों ने नये नियम बनाये। कन्या का विवाह सात वर्ष की आयु से बारह वर्ष की आयु के बीच कर दिये जाने लगे थे।''[67] मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति भी विशेष ठीक नहीं थी। फिर भी हिंदू स्त्रियों की अपेक्षा उनकी स्थिति ठीक थी। ''मुस्लिम स्त्रियों को पैतृक संपत्ति में अधिक अधिकार प्राप्त था। वे विशेष परिस्थिति में पति को तलाक भी दे सकती थीं। साधारणतया पारिवारिक जीवन शांतिमय था और पति–पत्नी में सद्भावना, प्रेम और सम्मान रहता था।''[68] सती प्रथा का उन दिनों विशेष प्रचलन था। हिंदू स्त्रियों विशेषकर राजपूत राजा इस प्रथा का पालन करते थे। किसी राजा की मृत्यु होने पर उसकी रानियाँ अपनी इच्छा से या समाज के डर से सती हो जाती थी। मुस्लिम स्त्रियाँ इस प्रथा से मुक्त थीं। रोमिला थापर पुस्तक 'भारत का इतिहास' में कहती हैं, ''शरीअत के अनुसार आत्महत्या गैर–कानूनी है और सती होना आत्महत्या का कार्य था, परंतु

हिंदू स्त्रियों को इसकी अनुमति दे दी गई।''[69] इस दुर्भाग्यपूर्ण कुरीति का वर्णन करते हुए इतिहासकार सतीशचंद्र कहते हैं, ''मृत राजा को उसके साथ सती होनेवाली स्त्रियों से जो सत् प्राप्त होने की कल्पना थी उसमें वृद्धि करने के लिए रानियों के साथ दासियों, पासवान् इत्यादि को जो राजा के साथ सहवास कर चुकी थीं और जो देशाचार के अनुसार उसकी एक प्रकार की पत्नियां मानी जाती थीं और जिन्हें इसके फलस्वरूप विशेष सुविधाएं प्रदान की जाती थीं, राजा के साथ सती होने पर मजबूर किया जाता था।''[70] कामुक दृष्टि से बचने के लिए पर्दा प्रथा का जन्म हुआ। हिंदू स्त्रियाँ पर्दा प्रथा का पालन करने लगी। मुस्लिम स्त्रियों को घर के एक पृथक भाग में रखा जाता था जिसे जनाना कहते थे। उन्हें बाहर बिना परदे के निकलने की अनुमति नहीं थी। पर्दा प्रथा उदय के कारण स्त्रियों के जीवन में आए खोखलेपन का वर्णन करते हुए रोमिला थापर कहती हैं, ''हिंदू और मुस्लिम कुलीन वर्ग ने अपनी स्त्रियों को जीवन के अप्रिय एवं बहुधा आदिम रूप से बचाए रखने का जो प्रयत्न किया उसके कारण उनकी स्त्रियों में एक अजीब अकेलापन और खोखलापन आ गया। ऐसी स्थिति में समय काटने के लिए वे अपना समय या तो गुप्त प्रेम संबंधों अथवा राजनीतिक कुचक्रों में लगाती थीं। कृषक एवं शिल्पी वर्ग की नारियों को अपने समाज के अंदर अपेक्षाकृत अधिक स्वाधीनता प्राप्त थी, और निःसंदेह इसका कारण आर्थिक आवश्यकता थी।''[71] उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग की स्त्रियों में अंतर था। किंतु पिता, पति एवं पुत्र पर निर्भरता सभी स्त्रियों पर समान रूप से लागू थी। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ शिक्षित होती थीं और ऐशोआराम से रहती थीं किंतु उनकी दुनिया हरमों तक सीमित थी। उनके पतियों की अनेक पत्नियां एवं रखैलें होती थीं।

हिंदू और मुसलमान दोनों समुदायों के गरीब किसान और कारीगर एक ही वर्ग के थे। शूद्रों की स्थिति के विषय में रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं, ''शास्त्रों का अत्याचार केवल इतना नहीं था कि उन्होंने खाने–पीने, चलने–फिरने, मिलने–जुलने और आने–जाने पर इतने अधिक प्रतिबंध लगा दिए थे, कि उनके अनुसार, आदमी की जात, बात की बात में चली जाती थी; उनका सबसे बड़ा अत्याचार, कदाचित यह था कि जाति भ्रष्ट व्यक्ति को फिर से जाति में मिलाने का कोई उपाय नहीं निकाला था।''[72] शूद्रों की स्थिति

अत्यंत दयनीय थी। उच्चवर्णों द्वारा उन पर पशुवत् व्यवहार किया जा रहा था। इस घुटन भरे जीवन से मुक्त होने के लिए भारी संख्या में धर्म परिवर्तन हो रहा था। इतिहासकार रोमिला थापर भी 'भारत का इतिहास' पुस्तक में स्पष्ट करती हैं कि ''प्रारंभ में जिन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार किया, वे छोटी जाति के हिंदू थे। उन्होंने इस विश्वास के साथ हिंदू समाज का परित्याग कर, इस्लाम धर्म ग्रहण किया था कि छोटी जाति के हिंदू रहने की अपेक्षा मुसलमान होकर अधिक अवसर प्राप्त कर सकेंगे।''[73] तत्कालीन स्त्रियों, कृषकों एवं शूद्रों की स्थिति देखकर कहा जा सकता है कि उत्तर भारत की सामाजिक व्यवस्था अत्यंत दयनीय थी।

4.4.3 उत्तर भारत की आर्थिक स्थिति

देश की आर्थिक स्थिति का मुख्य आधार कृषि, पशुपालन तथा हस्तकलाएं थी। जीवन–यापन की वस्तुएं तो बहुत सस्ती थी परंतु लोगों की क्रय शक्ति इतनी भी नहीं थी। हिंदी भाषी प्रदेश दरिद्रता की गोद में पल रहा था। तथाकथित शूद्र जातियाँ इस अभिशाप से मुक्ति पाने के लिए धर्मपरिवर्तन कर रही थीं। उत्तरी भारत बुरी तरह आर्थिक विषमता का सामना कर रहा था। जगमगाते राजकोषों तथा विलासमय दरबारों से साधारण जनता की आर्थिक स्थिति अत्यंत खराब हो गई थी। विदेशी व्यापार को जो प्रोत्साहन सुल्तान दे रहे थे, वह केवल अपनी विलासिता की पूर्ति करने के लिए था।

विद्वानों के अनुसार अकबर के शासनकाल में आर्थिक स्थिति अच्छी मानी गई 'अकबर के शासनकाल में साम्राज्य उन्नति के शिखर पर था क्योंकि राज्य की नीति इसके अनुकूल थी। राज्य हस्तशिल्प उत्पादन के विकास और उनके व्यापार को प्रोत्साहित करता था। कारीगरों और व्यापारियों को करों में छूट देता था। अन्य सामंत स्वामियों से अत्याचारों से उनकी रक्षा का प्रयत्न करता था।'[74] उत्तर भारत की आर्थिक दशा खराब थी। सामंतवादी व्यवस्था होने के कारण मजदूर वर्ग और कृषक वर्ग का जीवन दयनीय हो गया था।

4.4.4 उत्तर भारत की धार्मिक स्थिति

उत्तरी भारत में भक्ति भावना का प्रसार पंद्रहवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। जब तुर्क शासन सुदृढ़ हो चुका था तथा सूफियों ने इस्लाम के लिए एक अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार कर ली थी। मंदिरों के विनाश एवं मूर्ति भंजक के रूप का इतिहास बहुत समय पहले की बात है। सूफियों द्वारा इस्लाम के शांतिपूर्ण प्रसार और हिंदू समाज के बारे में रोमिला थापर पुस्तक 'भारत का इतिहास' में कहती हैं, ''भारत में इस्लाम के आगमन से पूर्व गुरूओं और सन्यासियों की जो परंपरा थी, उसने उनके मुस्लिम समकक्ष पीरों और शेखों को स्वीकार करने के लिए भूमि तैयार कर दी थी। वे एकांत में रहते थे ओर ऐसा विश्वास किया जाता था कि उन्हें अथाह धार्मिक सिद्धियाँ प्राप्त है। इसलिए उन्हें निश्चित रूप से जनता का समर्थन प्राप्त था, वे जब चाहें उसे इस्तेमाल करते थे और सरकार उनकी इस शक्ति से अनभिज्ञ नहीं थी।''[75] पीरों और शेखों की परंपरा में आगे चलकर सूफी मत का आगमन हुआ। जिसमें भारतीय अद्वैतवाद और इस्लाम के एकेश्वरवाद का समन्वय था। ऐसा माना जाता है कि सूफी कहलाने वाले रहस्वादियों का उदय इस्लाम के प्रारंभिक काल में हो चुका था। प्रो. सतीश चंद्र कहते हैं, ''10वीं सदी तक इस्लामी जगत में सूफीवाद दूर–दूर तक फैल चुका था। 10वीं और 12वीं सदियों के बीच दार्शनिक विचार, विश्वास एवं व्यवहार जैसे सांस रोकना, अथवा तपस्या एवं उपवास करना, विभिन्न पंथों अथवा सिलसिलों का उदय, एवं कई सूफियों द्वारा स्थापित ख़ानकाहों अथवा धर्मशालाओं का गठन आदि परम्पराएं मज़बूती से जड़ पकड़ चुके थे।''[76] सूफियों को हिंदू एवं मुस्लिम दोनों धर्मों द्वारा आदर की दृष्टि से देखा जाता था। सूफी अधिकांश गहन भक्ति करने वाले संत थे जो इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद नैतिकता के पतन तथा धन के अभद्र प्रदर्शन से चिढ़ गए थे। सूफियों की प्रेमप्रधान विचारधारा ने हिंदू–मुस्लिम धर्मों में समन्वय स्थापित करने में पर्याप्त योगदान दिया, किंतु सूफीयों के प्रभाव से चमत्कारों को प्रोत्साहन मिला साथ ही विज्ञान एवं वैज्ञानिकों पर संदेह बढ़ा। सूफी विचारधारा के नकारात्मक पक्षों को इंगित करते हुए प्रो. सतीशचंद्र कहते हैं, ''संत के प्रति अत्यधिक श्रद्धा की परंपरा ने अनेक भक्तों को मूर्तिपूजा की हद तक ला खड़ा किया। विशेषकर किसी संत के देहांत के बाद उसकी दरगाह लगभग पूजा–स्थल अथवा पूजा की

वस्तु बन जाती थी। संत की इच्छाओं का निर्विवाद पालन कभी–कभी चापलूसी का वातावरण पैदा कर देता था। इसी लिए कुछ भ्रमणशील संत अथवा कलंदर ख़ानकाहों के सख्त विरोधी थे।''[77] इसमें कोई संदेह नहीं है कि भक्ति आंदोलन में एकेश्वरवाद एवं समानता आदि के सिद्धांत इस्लाम के प्रभाव का स्पष्ट उदाहरण हैं। इसी के समांतर निर्गुण भक्ति की भावना का प्रसार हुआ जिसे कबीर, दादू, नानक आदि संतो ने प्रचारित किया। इन संतों ने लोगों को भक्ति का संदेश दिया। इन्होंने ग्रंथ आधारित धर्म, मूर्तिपूजा एवं जाति व्यवस्था का घोर विरोध किया। पंद्रहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य की शिष्य परंपरा में रामानंद हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की भक्ति के द्वार सबके लिए खोल दिए।

सूफियों की साधना पूर्णतया प्रेममार्गी थी और वहाँ भी विरह गीतों द्वारा उस अदृश्य अलौकिक ब्रह्म को प्राप्त करने की चेष्टा उसी प्रकार की जा रही थी जैसी चेष्टा वैष्णव आचार्यों ने की थी। अंतर केवल इतना था कि वहाँ निराकार ब्रह्म के प्रति चेष्टा की जाती थी जबकि वैष्णव सम्प्रदाय ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म को महत्व दिया।

4.4.5 उत्तर भारत की कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

यह काल सांस्कृतिक दृष्टि से एक समन्वित विकास का काल था। कई जातियों के आगमन से भारतीय संस्कृति पर उन जातियों का प्रभाव पड़ा एवं एक मिली जुली संस्कृति का विकास हुआ। इस्लाम के आने से एक बार फिर सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ। रोमिला थापर कहतीं हैं, ''इस्लामी संस्कृति का तत्कालीन भारतीय संस्कृति में जो सम्मिश्रण हुआ उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नगरों के शिल्पियों तथा कृषकों की गतिविधियों में हुई, जैसा कि उस समय के सामाजिक–धार्मिक विचारों एवं आधारभूत शिल्प–कार्यों जैसे स्मारकों के निर्माण से ज्ञात होता है। इस युग की वास्तुकला में भी यह मिश्रण स्पष्ट है इन दोनों श्रेणियों में रहन–सहन का ढ़र्रा उच्च वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंचा था। घरेलू समारोह तथा जन्म, विवाह एवं मृत्यु से संबंधित अनुष्ठान एक–दूसरे से घुलमिल गए थे। इस्लाम धर्म अपनाने वाले

हिंदू भी हिंदुओं में प्रचलित प्राचीन अनुष्ठानों को धर्म परिवर्तन के बावजूद मानते रहे। इस्लाम धर्म के कुछ शुभ माने जाने वाले धर्मानुष्ठान हिंदुओं के अनुष्ठानों में प्रवेश कर गए।'[78]

सांस्कृतिक क्षेत्र में, क्षेत्रीय भाषाओं, संगीत, नृत्य, चित्रकला, शिल्पकला इत्यादि के विकास में भक्ति आंदोलन का विशेष योगदान रहा।

निष्कर्षतः छठी शताब्दी में जिन परिस्थितियों के कारण तमिल प्रदेश में आल्वार संतों का भक्ति आंदोलन घटित हुआ, ठीक वैसी ही परिस्थितियाँ तेरहवीं–चौदहवीं शताब्दी में हिंदी प्रदेश में मौजूद थी। परंतु उत्तर भारत की स्थिति विदेशी आक्रमण के कारण अधिक गम्भीर थी। बाकी सारी परिस्थितियाँ उसी प्रकार वर्तमान थी जिस प्रकार उसके सात–आठ सौ वर्ष पहले दक्षिण में मौजूद थी। भक्ति आंदोलन तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया थी।

संदर्भ सूची

1. डॉ. नगेन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 1973, अठाईसवां सं. 2001, मयूर पेपरबैक्स, ए–15, सेक्टर–5, नोएड़ा–201301, पृ.–200.
2. वही, पृ.–201
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (भूमिकाः रामकिशोर शर्मा); त्रिवेणी, लोकभारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–52.
4. सं. रामचंद्र शुक्ल; भ्रमरगीतसार, कला मंदिर, 1687, नई सड़क, दिल्ली–110006, पृ.–109.
5. डॉ. बच्चन सिंह; हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पहला सं. 1996, चौथी आवृति 2012, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली–2, पृ.–79.
6. रामविलास शर्मा; परंपरा का मूल्यांकन, दूसरा सं. 2011, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–50.
7. आचार्य रामचंद्र शुक्ल; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 2010, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क, दिल्ली–110006, पृ.–92.
8. गणपतिचंद्र गुप्त; साहित्यिक निबंध, बाईसवां सं. 2011, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–319.
9. डॉ. आर. सुमन लता; अष्टछाप तथा ताल्लपाक कवियों का तुलनात्मक कवियों का तुलनात्मक अध्ययन, सं. 1989, दक्षिणांचलीय साहित्य समिति, 405/7/1, गाँधी नगर, हैदराबाद–500380, पृ.–84.
10. विजयेन्द्र स्नातक; श्री वल्लभाचार्य, सं. 1992, तीसरी आवृति 2012, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070, पृ.–44.
11. डॉ. हरगुलाल; अष्टदाप के कवि कुंभनदास, सं. 2008, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड़, नई दिल्ली–110003, पृ.–20.
12. विश्वनाथ त्रिपाठी; हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्रथम सं. 1986, ग्यारहवां सं. 2001, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली–110016, पृ.–37.
13. डॉ. दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग) सं. 1999, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद–211003, पृ.–120.
14. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज–श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई–4, पृ.–250.

15. वही, पृ.—250.
16. प्रियादास कृत श्री भक्तमाल टीका— कवित्त (भक्तिसुधावाद तिलक सहित), सीतारामशरण भगवान प्रसाद रूपकला द्वारा प्रणीत, पृ.—557.
17. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज—श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई—4, पृ.—255.
18. वही, पृ.—255.
19. वही, पृ.—256.
20. वही, पृ.—263.
21. वही, पृ.—272.
22. वही, पृ.—274.
23. वही, पृ.—275.
24. प्रियादास कृत श्री भक्तमाल टीका— कवित्त (भक्तिसुधावाद तिलक सहित), सीतारामशरण भगवान प्रसाद रूपकला द्वारा प्रणीत, पृ.—559.
25. डॉ. दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग) सं. 1999, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद—211003, पृ.—114.
26. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज—श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई—4, पृ.—278.
27. राघवदास कृत भक्तमाल (चतुरदास कृत टीका सहित), सं. 1965, प्रकाशक—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान, पृ.—133.
28. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज—श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई—4, पृ.—291.
29. वही, पृ.—292.
30. वही, पृ.—295.
31. डॉ. दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग) सं. 1999, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद—211003, पृ.—245.
32. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज—श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई—4, पृ.—313.
33. वही, पृ.—314.
34. वही, पृ.—323.
35. वही, पृ.—323.
36. वही, पृ.—324.
37. राघवदास कृत भक्तमाल (चतुरदास कृत टीका सहित), सं. 1965, प्रकाशक—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान, पृ. 97—98.

38. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (तीन जनम की लीला भावना सहित), खण्ड 1—खण्ड 3, सं. द्वारकादास पारिख, पूजा प्रकाशन, अहमदाबाद, पृ.—232.
39. वही, पृ.—233.
40. वही, पृ.—234.
41. वही, पृ.—234.
42. वही, पृ.—235.
43. वही, पृ.—247.
44. वही, पृ. 251—252.
45. वही, पृ.—264.
46. वही, पृ.—264.
47. वही, पृ.—269.
48. वही, पृ.—269.
49. वही, पृ.—276.
50. श्रीनाभादास कृत भक्तमाल, सं. 1957, मुद्रितः श्रीवेंकटेश्वर छापाखाना, मुम्बई, पृ. —203
51. राघवदास कृत भक्तमाल (चतुरदास कृत टीका सहित), सं. 1965, प्रकाशक—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान, पृ.—163.
52. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (तीन जनम की लीला भावना सहित), खण्ड 1—खण्ड 3, सं. द्वारकादास पारिख, पूजा प्रकाशन, अहमदाबाद, पृ.—277.
53. वही, पृ.—278.
54. वही, पृ.—287.
55. वही, पृ.—290.
56. वही, पृ.—290.
57. वही, पृ.—300.
58. आचार्य रामचंद्र शुक्ल; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 2010, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क, दिल्ली—6, पृ.—91.
59. डॉ. मायारानी टंड़न; अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, सं. 1960, विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ, पृ.—561.
60. डॉ. शेर सिंह बिष्ट; वैष्णव धर्म सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धांत और कृष्ण भक्ति काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य, सं. 1990, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ.—213.
61. डॉ. मायारानी टंड़न; अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, सं. 1960, विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ, पृ.—568.

62. डॉ. शेर सिंह बिष्ट; वैष्णव धर्म सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धांत और कृष्ण भक्ति काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य, सं. 1990, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ.–214.
63. डॉ. मायारानी टंड़न; अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, सं. 1960, विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ, पृ.–568.
64. डॉ. शेर सिंह बिष्ट; वैष्णव धर्म सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धांत और कृष्ण भक्ति काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य, सं. 1990, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ.–214.
65. इब्ने हसन; मुगल साम्राज्य का केंद्रीय ढांचा, अनुवादकः कृपालचंद यादव, सं. –1997, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, जी–82, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ. 30–31
66. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक नरेश नदीम, अंक–6 पहला सं. 1999, दूसरी आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 25.
67. डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, तृतीय सं. 2002, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, पृ. 256.
68. डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, तृतीय सं. 2002, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, पृ. 201.
69. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 264.
70. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत (सल्तनत से मुगलकाल तक) दिल्ली सल्तनत 1526–1748, प्रथम सं. 2001, तृतीय सं. 2006, जवाहर पब्लिशर्स एंड़ डिस्ट्रीब्यूटर्स, 15, डी.डी.ए, मार्केट बेर सराय, नई दिल्ली–110016, पृ. 379.
71. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 272.
72. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–233.
73. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 252.
74. अलेक्जेंडर आई. चिचेरोव; मुगलकालीन भारत की आर्थिक संरचना (सोलहवीं से अठारहवीं सदी के मध्य व्यापार और दस्तकारी), अनुवाद : मंगलनाथ सिंह, प्रथम सं. 2003, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ. 144.
75. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 271.

76. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत (सल्तनत से मुगलकाल तक) दिल्ली सल्तनत 1206–1526, प्रथम सं. 2000, पुनर्मुद्रण 2007, जवाहर पब्लिशर्स एंड़ डिस्ट्रीब्यूटर्स, 15, डी.डी.ए, मार्केट बेर सराय, नई दिल्ली–110016, पृ. 243.
77. वही, पृ. 253.
78. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 271.